संदर्भ सूची

१. डॉ. रणजीत : हिंदी कविता की प्रगतिशील भूमिका, पृ. १५९
२. भारतभूषण अग्रवाल : ओ अप्रस्तुत मन
३. सुशील सिद्धार्थ : तद्भव, क २, पृ. २३७
४. कात्यायनी : सात भाईयों के बीच चंपा, पृ. ५१
५. बद्री नारायण : सच सुने कई दिन हुए
६. अशोक वाजपेयी : बहुवचान, वर्ष १, अंक १, पृ. १०
७. उदय प्रकाश : रात में हारमोनियम
८. परमानंद श्रीवास्तव : तद्भव, अंक २, पृ. २४०
९. विजय कुमार : उद्भावना कवितांक ४७-४८, संपादकीय
१०. आलोक धन्वा : दुनिया रोज बनती है, पृ. ३५
११. अशोक वाजपेयी : उद्भावना कवितांक ४७-४८, पृ.१३
१२. कुवंर नारायण : सदी के अंत में कविता, पृ. ९
१३. सुधीर रंजन सिंह : वही, पृ. २२०-२१
१४. शमशेर बहीदुर सिंह : प्रातनिधी कविताएँ, पृ. १५८
१५. विश्वंभरनाथ उपाध्याय : संबोधन 'शताब्दी अंक', पृ. १८-१९
१६. निर्मला गर्ग : स्वाधीनता- शारदीय विशेषांक ९९, पृ. १४२
१७. अमर नाथ : समकालीन सृजन २०४७ का भारत अंक, पृ. १५९
१८. अरुण कमल : नये इलाके में, पृ. ७०-७१
१९. राजेश जोशी : मिट्टी का चेहरा, पृ. ५८
२०. प्रियंकर पालीवाल : समकालीन सृजन अंक १९, पृ. १०९

इक्कीसवीं सदी और समकालीन कविता का चेहरा

ईश्वर सिंह

इक्कीसवी सदी और कविता के अंतर्संबंधों पर कई कोणों से विचार हो सकता है। कविता करीब-करीब उतनी ही प्राचीन है जितना इस धरती पर मनुष्य और उसकी भाषा। काव्य मनुष्य के अस्तित्व की एक पूर्व शर्त है। यही वजह है कि जो लोग कवि नहीं होते या जो कविता के पाठक नहीं होते, वे भी किसी न किसी स्त्रोत के जरिए काव्य की अपनी भूख को शांत करते हैं। इस नजरिए से हम देखे तो पाते हैं कि कविता काल आधारित होते हुए भी काल का अतिक्रमण करती है। इक्कीसवी सदी और कविता के संबंधों की चर्चा करने के लिए काव्य के इस गुण की पहचान जरूरी हैं।

कविता कई रास्तों और रूपों के माध्यम से काल का अतिक्रमण करती है और इसी तरह कई तरीकों से काल के साथ आबद्ध होती है। इसलिए कविता के बारे में अमूर्त और सामान्य स्तर पर बात करते हुए भी हमेशा एक काल विशेष की कविता के बारे में अलग से बात करना जरूरी जान पडता है। काल विशेष का निर्धारण कई प्रकार से हो सकता है। उदाहरण के लिए हम किसी एक साल में लिखी गई कविताओं की बात कर सकते हैं, वहीं समय सीमा का विस्तार करते हुए एक पूरे दशक में रचित कविताओं या फिर एक पूरी सदी के दौरान सामने आई काव्य प्रवृत्तियों की बात कर सकते हैं।

कविताओं के संदर्भ में काल का ऐसा विभाजन निश्चित ही देश या स्थान से निरपेक्ष नहीं होता। राष्ट्र, भाषाई प्रभाव क्षेत्र, अंचल, क्षेत्र, जिला, नगर के अलावा विभिन्न सांस्कृतिक इकाइयां स्थल को परिसीमित कर सकती हैं। चूंकि हम इस वक्त राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में बात कर रहे हैं, कविता के देशीय विभाजन के विमर्श को यहीं विराम दिया जा सकता है। हालांकि मैं अपनी बात खास तौर पर हिंदी के संदर्भ में ही रखूंगा।

कविता के स्वरूप और प्रवृतियों पर बात करने के लिए सबसे अनुकूल इकाई दशक है। हालांकि यह ख्याल रखा जाना चाहिए कि कैलेंडर का समय हूबहू कविता का समय नहीं होता। मसलन साठ का दशक अठावन से ही शुरू हो सकता है या बासठ तक खिंच सकता है। पूरी सदी के संबंध में कविता के स्वरूप में आए परिवर्तनों की पहचान जरा मुश्किल है। फिर भी इसे ऐतिहासिक रूप से या सिंहावलोकन के जरिए संपन्न किया जा सकता है। आज जब हम इक्कीसवीं सदी में पहुंच गए हैं, पूरी बीसवीं सदी या इसके

पहले की उन्नीसवीं सदी के काव्य के रूझानों के बारे में हम साधिकार बात कर सकते हैं।

मगर प्रश्न यह है कि क्या ऐसा ही इक्कीसवीं सदी को लेकर किया जा सकता है, जबकि उसकी प्रवृत्तियां अभी स्पष्ट तक नहीं हुई हैं? यहाँ यह साफ हो जाना चाहिए कि वर्ष २०१२ में जब हम इक्कीसवीं सदी के बारे में बात करते हैं तो हम दरअसल वास्तविक इक्कीसवीं सदी के बारे में नहीं, बल्कि एक कल्पित इक्कीसवीं सदी के बारे में बात कर सकते हैं, जो ज्यादा हमारे पूर्वानुमानों पर आधारित है।इक्कीसवी सदी चूंकि शुरू हो गई है, इसलए उसकी कुछ प्रवृत्तियां दृष्टिगोचर होने लगी हैं, मगर बीसवीं सदी या उन्नीसवीं सदी का अनुभव यही बताता है की किसी सदी का उत्तरार्ध उसके पूर्वार्ध से काफी भिन्न हो सकता है। इसलिए यह हो रहा है कि आज इक्कीसवीं सदी के बारे में जो बातें हो रही हैं, वे काफी हद तक बीसवीं सदी के उत्तरार्ध और विशेषकर आखिरी दो दशकों में उभरे रूझानों को अपना प्रस्थान बिंदू बनाती है।

उन्नीसवीं सदी के बाद जिस तरह बीसवीं सदी आनी ही थी, उसी तरह बीसवीं के बाद इक्कीसवीं का आना तय था। लेकिन रोचक यह है की इक्कीसवीं सदी को लेकर बीसवीं सदी के अंतिम दो दशकों में खास तरह के विमर्श उभरे। मोटे तौर पर ये विमर्श टेक्नोलॉजी के बढ़ते महत्व, संचार माध्यमों की बढ़ती भूमिका और भूमंडलीकरण नाम की एक खास प्रक्रिया को लेकर केंद्रित थे। इन विमर्शों की चालक शक्ति पश्चिमी नेतृत्व में आगे बढ़ रहा विश्व पूंजीवाद ही था। भूमंडलीकरण के चारों तरफ भी एक ऐसा हो-हल्ला खडा किया गया कि पूंजी और उसके प्रभुत्व में हो रहा टॅक्नोलॉजी (खास तौर पर संचार टेक्नोलॉजी) का साम्राज्यवादी विस्तार ही भूमंडलीकरण कहलाने लगा।

निश्चित ही इन विमशों के प्रति-विमर्श भी पैदा हुए, जिसमें प्रभुत्व की प्रक्रियाओं की शिनांख्त की गई और इन्हें प्रश्नांकित किया गया। मगर इक्कीसवीं सदी की एक खास अवधारणा देश के सार्वजनिक दायरे में अपना वर्चस्व बनाने में सफल हुई। राजीव गांधी पहले प्रधानमंत्री थे, जिन्होंने इस अवधारणा को सचेत रूप से आगे बढ़ाया। ध्यान से देखे तो पाएंगे कि वाम और अन्य परिवर्तनकारी ताकतों में 'प्रगति' के विमर्श को लेकर पर्याप्त आलोचनात्मक नजरिया विकसित नहीं हो जाने की वजह से भी इक्कीसवीं सदी का सरकारी और पूंजीवादी पाठ वर्चस्व की भूमिका में आ पाया।

प्रगति की अवधारणा का विकास, पर्यावरण, सामाजिक न्याय, गैर-बराबरी आदि के विचारों से क्या संबंध ऐतिहासिक रुप से रहा है और इस अवधारणा को आज की चुनौतियों के परिप्रेक्ष्य में किसीतरह पुनर्परिभाषित किया जाना चाहिए, इस पर आज

भी यथोचित विचार-विमर्श नहीं हो रहा है। यही वजह है की खास तौर पर पश्चिमी देशों में प्रगतिशील तबकों के भीतर उत्तर-आधुनिकता नाम के सापेक्षतावादी, और निश्चित अर्थों में रूढ़िवादी दर्शन ने विकास के प्रति-विमर्श की खाली जगह को भर दिया। मगर पेंच यह है कि उत्तर-आधुनिक दर्शन कई बार पूंजीवाद विरोधी हुए बगैर प्रगति-विरोधी हो जाता है। यह स्थिति यथास्थितिवाद के लिए काफी अनुकूल है। भारत में पर्यावरणीय चेतना का ऊँचा स्तर नहीं है और आधुनिकीकरण और विकास को मौटे तौर पर गरीबी और जहालत का विलोम माना जाता है। इसलिए यहाँ प्रकट रूप से उत्तर-आधुनिक प्रस्तावों का खासा विरोध हुआ, हालांकि चुपके से उसकी बहुत सी प्रस्थापनाओं ने परिवर्तनकारियों के बीच जगह बना ली।

इस तरह हम देखते हैं कि इक्कीसवीं सदी के वास्तविक रूप से आने के पहले ही उसकी एक खास अवधारणा आगे बढ़ाई गई। भारत में साहित्य और खास तौर पर कविकर्म की यह तारीफ करनी होगी कि उसने इस अवधारणा को प्रश्नों के घेरे में खड़ा करने में योगदान किया। इसलिए कविता के संदर्भ में बात करते हुए इक्कीसवीं सदी और उसकी विचारधारात्मक छवि में फर्क किया जाना चाहिए। असल इक्कीसवीं सदी तो शुरू ही हुई है। और बीसवी सदी ने अपने तमाम अंतर्विरोधों, टकराहटों, और उलझनों को इक्कीसवीं सदी के हवाले कर दिया है। इसमें सबसे बड़ी टकराहट पूंजीवाद के मुद्दे पर है। इक्कीसवीं सदी का पूंजीवाद ज्यादा संकटग्रस्त मगर ज्यादा आत्म-विश्वस्त है। इसकी एक बड़ी वजह बीसवीं सदी के समाजवाद की वास्तविक और वैचारिक पराजय है। पूंजीवाद ने पहले और दूसरे विश्वयुद्ध के समय व्यवस्था पर मंडरा रहे संकट के बरक्स अपने को जैसा बदला, उस तरह का लचीलापन समाजवाद नहीं दिखा पाया। आज फिर विश्व पूंजीवाद संकट में है। मगर इक्कीसवीं सदी के समाजवाद के पुनर्नवीकरण की धीमी रफ्तार ने उसे वाक ओवर दिया हुआ है।

बीसवीं सदी के आखिरी में भारत के सांस्कृतिक परिदृश्य में बहुत से पहचानों के विमर्श पैदा हुए, जो न सिर्फ पारंपारिक वर्ग दृष्टिकोण को लेकर असंतोष की अभिव्यक्ति थे, बल्कि एक नई किस्म की राजनीतिक चेतना से जुड़े हुए थे। इस दौर में नारी विमर्श, दलत विमर्श, आदिवासी विमर्श के अलावा पर्यावरण विमर्श सामने आया। रोचक बात यह है कि ये सारे ही विमर्श भारत में बीस से तीस साल की देरी से परवान चढे। यहां इन्हें पश्चिम के नारी विमर्श, अश्वेत विमर्श और मूल निवासी विमर्श से प्रेरणा मिली। जैसा सुस्पष्ट वर्ग विभाजन यूरोप और अमेरिका में सामने आया था, वैसा भारत में नहीं उभरा।

फिर भी भारत में वर्ग चेतना लंबे समय तक व्यवस्था विरोध का मुख्य आधार रही है।

यह निश्चित है कि वर्ग-आधारित शोषण की प्रक्रिया और पहचान-आधारित गैर-बराबरी की प्रक्रियाओं में क्या आपसी संबंध है, इसे लेकर दोनों ही खेमों में एक-दूसरे के प्रति अविश्वास और उपेक्षा रही है। इस बात को देर से माना गया कि पूंजीवाद कही भी एक झटके में पैदा नहीं होता। वह पूंजीवाद-पूर्व के आर्थिक और सामाजिक संबंधों के साथ आंगिक प्रक्रिया करते हुए रास्ता बनाता है। इसलिए नए आर्थिक वर्ग जैसे पूंजीपति और मजदूर न सिर्फ पुराने आर्थिक वर्गों मसलन सामंत, जमींदार और किसान पर आधारित होते हैं, बल्कि वे अन्य विद्यमान गैर-बराबरी के संबंधों जैसे नस्ल, जाति, जेंडर, जातीयता आदि पर भी आधारित होते हैं।

जहां पहले वर्गवादियों ने वर्गों के गठन, चेतना और कार्रवाई में गैर-वर्गीय पहचानों के असर, मिश्रण और पैठ से इंकार किया, वहीं बाद में गैर-वर्गीय पहचानों पक्षधरों ने इनके पूंजीवाद से संबंध और वर्गोंके साथ मिश्रण और एकजुट कार्रवाइयों की बात करने से गुरेज किया। वर्ग चेतना का उदय हुए काफी समय हो गया है। इसलिए उससे जुडी बहुत सी बातों जैसे वर्गीय सौंदर्यशास्त्र का ज्यादा स्वीकार समाज में हुआ है। कई अथों में वर्गीय सौंदर्यशास्त्र और साहित्य विमर्श ने साहित्य और संस्कृति को लेकर समाज में व्याप्त चेतना में केंद्रीय जगह बना ली है। पहचानों से जुड़े विमर्श अभी भारत में उभार और संघर्ष की प्रक्रिया में हैं। भविष्य में एक तो सामान्य सामाजिक चेतना में इनका ज्यादा स्वीकार दिखाई देगा, दूसरे वर्गीय सौंदर्यशास्त्र के साथ इनका नया तालमेल सामने आएगा।

उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में दुनिया भर में वर्गदृष्टि ने कविता की बनावट को खासा प्रभावित किया था। भारत में यह काम बीसवीं सदी में ही शुरू हुआ। मगर कविता की संरचना में तब्दीली लानेवाला महज यही कारक नहीं था। अंग्रेजों केऔपनिवेशिक राज के साथ पश्चिम की आधुनिकता भारत पहुंची थी। उसके साथ उदारवाद, रुढ़िवाद और समाजवाद की तीन बड़ी यूरोपीय राजनीतिक दृष्टियां भी भारत पहुँची। भारत के तत्कालीन समाज और बौद्धिक विमर्श से इसकी टक्कर हुई। जहाँ एक तरफ आधुनिकीकरण और पश्चिमीकरणके अंधानुकरण के पैरोकार पैदा हुए, वहीं स्वाधीनता आंदोलन के चलते आधुनिकता के आलोचनात्मक स्वीकार की बातें करने वाले उभरे। पश्चिमी व भारतीय रूढ़िपरस्तों में तालमेल हुआ। इस टक्कर ने भारत के पारंपरिक समाज और उसके बौद्धिक व सांस्कृतिक धरातल को हमेशा के लिए बदल दिया।

दिलचस्प बात यह है कि आर्थिक क्षेत्र में हमने पश्चिमी पूंजीवाद को और राजनीति के क्षेत्र में पश्चिमी संसदीय लोकतंत्र को जितना स्वीकारा, उतना सामाजिक क्षेत्र में आधुनिकता को नहीं स्वीकार पाए। मगर बौद्धिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में आधुनिकता के आंदोलन काफी प्रभावी हो गए। इसकी एक वजह भारत के शिक्षा जगत और कला-साहित्य जगत का समाज से अलगाव भी था। ज्ञान, कला और साहित्य के क्षेत्र में भारतीय समाज की चिंताएं मुखर रहीं और कलाकार व साहित्यकार भारतीय समाज की तरफ से लगातार बोलते रहे। मगर साहित्य के आधुनिक रुप मसलन उपन्यास, नई कहानी, नई कविता आदि लोक समाज की पकड से काफी दूर चले गए। इसलिए नई कविता तरह-तरह के नए राजनीतिक व सांस्कृतिक प्रक्रियाओं का प्रतिफलन थी, जिनमें से वर्ग चेतना महज एक छोटा कारक थी।

इसी तरह आज जब इक्कीसवीं सदी का पहला दशक पूरा हो चुका है, हम कविता की संरचना में आई तब्दिलियों का जायजा लेना शुरू कर सकते हैं। यह तब्दिलियाँ कथ्य और शिल्प दोनों स्तरों पर आ रही हैं। अभी तक कविता की बुनावट में कोई ऐसा मूलभूत अंतर सामने नहीं आया है, जिसके आधार पर हम कह सकें कि इक्कीसवी सदी की कविता की अपनी कोई अलग पहचान बन सकी है। इक्कीसवीं सदी की अब तक की कविता शिल्प के मामले में बीसवीं सदी के उत्तरार्ध की कविता का ही विस्तार है। उस दौरान उपजे तमाम शिल्प और अंदाजे-बयां कमोबेश अभी भी देखे जा रहे हैं। अलबत्ता कथ्य के स्तर पर नई बातें सामने आ रही हैं। आज की कविताएं बदलते समय की अनेक छवियां सामने लाती हैं।

जो एक बात आकर्षित करती है, वह यह है कि जहां कहानी में प्राचीन आख्यान परंपराओं का सीमित और रणनीतिक इस्तेमाल होने लगा है, वही नई कविता छंद या अलंकार आदि के सचेत प्रतिरोध की परंपरा को आगे बढ़ा रही है। यह अलग बात है कि कवियों का एक ऐसा छोटा सा समूह भी उभर रहा है जो नई अलंकारधर्मिता का प्रस्ताव कर रहा है। मगर अभी यह एक क्षीण प्रवृत्ति है। इसी तरह दलित,नारी व आदिवासी विमर्श मौटे तौर पर अब तक नई कविता के वर्गचेतन ढांचे को ही अपने नए कथ्य के लिए इस्तेमाल तर रहे हैं। टॅक्नोलॉजी के नए दबाव रचनाधर्मिता के क्या नए रूप सामने लाएंगे, इसका कयास लगाना फिलहाल मुश्किल है। खास तौर पर भारत में, जहां समाज के टेक्नोलॉजी से मुखामुखम के अलग-अलग स्तर और नजरिए हैं, जहां ८० फीसदी लोग 'टेक्नोलॉजी वंचित' कहे जा सकते हैं।

इक्कीसवीं सदी की कविता कैसी होगी, इस प्रश्न से जुड़ा हुआ एक बडा सवाल है कि इक्कीसवीं सदी के समाज में कविता की जगह क्या होगी। यह जगह लगातार सिकुड़ रही है। भारत में यह सिकुड़न शिद्दत के साथ शायद इसलिए महसूस नहीं हो रही है कि मध्यम वर्ग और शैक्षिक संस्थानों के विस्तार के चलते इस घटती जगह की क्षतिपूर्ति भी लगातार हो रही है। मगर कविता लोकप्रिय संस्कृति के तमाम मंचों से या तो अपदस्थ हो रही है, या मंचों पर उसका नवविद्रूपीकरण हो रहा है या फिर वह अकादमिक तंत्र की बेजान प्रक्रियाओं में गर्क हो रही है। कविता सत्ता और व्यवस्था के प्रभुत्वशाली तर्कों की मार से मानवीय अहसास को अपनी काया के भीतर बचा के रखती आई है और इस तरह एक नई विचारशीलता रचती रही है। मगर जब व्यवस्था के नए औजार विचार और अनुभव का रेडीमेड उत्पादन बडे स्तर पर करने को आमादा हों, तब कविता को नई चुनौतियों का सामना करने के लिए थोड़ा रुक के सोचना होगा।

नव्वदनंतरची मराठी कविता : काही निरिक्षणे

- वसंत पाटणकर

येथे नव्वदनंतरच्या मराठी कवितेसंबंधी काही निरिक्षणे मांडावयाची आहेत. नव्वद नंतरच्या मराठी कवितेचा हा मग्र विचार वा आढावा नव्हे. या काळातील मराठी कवितेमागे कोणत्या परंपरा आहेत, म्हणजेच या कवितेमागे कोणकोणती विश्वदर्शने आहेत, या कवितेच्या भोवतालचे सामाजिक-सांस्कृतिक पर्यावरण कोणते आहे, या पर्यावरणाला या कवितेने कोणता प्रतिसाद, कशा प्रकारे दिला आहे, या कवितेतील प्रश्न कोणते आहेत, या कवितेची भाषा, रुपबंध इत्यादी दृष्टींनी ठळक वैशिष्ट्ये कोणती आहेत, या गोष्टींमध्ये या कवितेने काही वेगळेपण आणले आहे का, ज्या परंपरामधून ही कविता व्यक्त होते, त्यांमध्ये या कवितेने अर्थपूर्ण भर घातली आहे का अशा काही प्रश्नांचा विचार येथे करावयाचा आहे.

येथे प्रारंभीच काही गृहीतके स्पष्ट करणे आवश्यक आहे. कवी विशिष्ट सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक वास्तवात, विशिष्ट काव्यपरंपरेत लिहित असतो. कवी आणि त्याच्या भोवतालचे वास्तव यांच्यात परस्परसंबंध असतात. तो या वास्तवाला वेगवेगळ्या प्रकारे प्रतिसाद देतो आणि त्यातूनच त्याचे मूल्यभानही प्रकट होते. या सर्व गोष्टी जशा त्याच्या कवितेला आकार देत असतात, तसेच कवी कविता लिहून या गोष्टींमध्ये हस्तक्षेपही करत असतो, या गोष्टीना कमी अधिक वळवत, वाकवत असतो. दुसरं म्हणजे सर्वच कवी सारख्याच पिंडाचे नसतात, आणि त्यांच्या भोवतालचे वास्तवही सारखेच नसते. त्यामुळे भिन्न काव्यसंकल्पना, वेगवेगळ्या प्रकारच्या कविता अस्तित्वात येतात. पर्यायाने कोणत्याही काळातील कवितेचे चित्र एकसंध नसते. तसे ते या काळातही नाही. हे लक्षात घेऊन नव्वद नंतरच्या कवितेमागील परंपरा कोणत्या आहेत, या कवितेच्या भोवतालचे वास्तव कोणते आहे, ते थोडक्यात पाहणे आवश्यक आहे.

केशवसुतांपासूनच्या एकूणच आधुनिक मराठी कवितेकडे पाहिले तर ही कविता रोमँटिसिझम व उदारमतवादी मानववादाच्या प्रभावाखाली असलेली दिसते. हे दोन्ही प्रभाव वेगवेगळ्या रुपांमध्ये आजच्या मराठी कवितेमध्ये दाखवता येतात. रोमँटिक कवितेत निसर्ग, स्त्रीपुरुष प्रेमभाव, जीवनातील एकाकीपण, व्यक्तिगत जीवनातील उदासीनता, वेदना, आपल्या अस्तित्वाचा शोध इत्यादी आशयसूत्रे महत्त्वाची ठरलेली